**ओ३म्**

**‘यज्ञोपवीत धारण करना आवश्यक क्यों हैं?’**

**-मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून।**

 वैदिक धर्म व संस्कृति में मनुष्य के 16 संस्कार किये जाने का विधान है। इनमें से एक संस्कार उपनयन संस्कार कहलाता है। आजकल इस संस्कार को कराने की परम्परा प्रायः देखने को नहीं मिलती। व्यवहार की दृष्टि से देखें तो मनुष्य के जन्म से पूर्व कोई संस्कार नहीं कराये जाते। जन्म के बाद पहला संस्कार नामकरण संस्कार ही प्रायः होता है। लोकाचार के नाम से कुछ प्रचलित परम्पराओं व रीतियों को सम्पन्न किया जाता है। उसके बाद विवाह संस्कार उत्सव की रीति से कराया जाता है। सबसे अधिक फिजूल खर्ची इसी विवाह संस्कार में की जाती है। विवाह के बाद अन्त्येष्टि संस्कार ही आर्य हिन्दुओं के घरों व परिवारों में होते दिखाई देते हैं। विवाह के बाद वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के संस्कार प्रायः बन्द ही हो गये हैं। यह सब अवैदिक वातावरण की देन कह सकते हैं। आश्वलायन व पारस्करादि गृह्य सूत्रों में उपनयन संस्कार कराये जाने के वचन वा संदर्भ उपलब्ध होते हैं। उनके आधार पर ऋषि दयानन्द जी ने संस्कारविधि में लिखा है कि जिस दिन बच्चे का जन्म हुआ हो, अथवा जिस दिन गर्भ रहा हो, उससे आठवें वर्ष में ब्राह्मण के, जन्म व गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय के और जन्म वा गर्भ से बारहवें वर्ष में वैश्य के बालक का यज्ञोपवीत संस्कार करें तथा ब्राह्मण के सोलह, क्षत्रिय के बाईस और वैश्य के बालक का चौबीसवें वर्ष से पहले-पहले यज्ञोपवीत होना चाहिए। यदि निर्धारित काल में इनका यज्ञोपवीत संस्कार न हो, तो वे पतित माने जावें। इसके बाद मनुस्मति के आधार पर ऋषि दयानन्द लिखते हैं कि जिन माता-पिता को अपने बच्चों के शीघ्र विद्या, बल और व्यवहार करने की इच्छा हो और बालक भी पढ़ने में समर्थ हुए हों, तो ब्राह्मण के लड़के का जन्म व गर्भ से पांचवें, क्षत्रिय के लड़के का जन्म व गर्भ से छठे और वैश्य के लड़के का जन्म व गर्भ से आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत करें। स्वामी जी यह भी लिखते हैं कि यह बात तब सम्भव है कि जब बालक की माता और पिता का विवाह पूर्ण ब्रह्मचर्य के पश्चात् हुआ होवे। उन्हीं के बालक ऐसे उत्तम, बुद्धि में श्रेष्ठ और पढ़ने में शीघ्र समर्थ होते हैं। जब बालक का शरीर और बुद्धि वैसी हो कि अब यह पढ़ने के योग्य हुआ, तभी उसका यज्ञोपवीत करा देवें। यज्ञोपवीत धारण करने वा कराने के निम्न 2 मन्त्र हैः

**ओ३म् यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।**

**आयुष्यमग्रयं प्रतिमुंच शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः।।1।।**

**यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि।।2।।**

यज्ञोपवीत संस्कार में आचार्य व शिष्य एक वेद मन्त्र बोलकर परस्पर प्रतिज्ञा करते व कराते हैं। मन्त्र है ‘ओ३म् मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु। मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु महयम्।।’ इस मन्त्र में आचार्य प्रतिज्ञा करते हुए शिष्य को कहता है कि ‘हे शिष्य बालक ! तेरे हृदय को मैं अपने अधीन करता हूं। तेरा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल सदा रहे और तू मेरी वाणी को एकाग्र मन हो प्रीति से सुनकर उसके अर्थ का सेवन किया कर और आज से तेरी प्रतिज्ञा के अनुकूल बृहस्पति परमात्मा तुझको मुझसे युक्त करे।’ इस मन्त्र की भावना के अनुरूप शिष्य भी प्रतिज्ञा करते हुए कहता है कि ‘हे आचार्य ! आपके हृदय को मैं अपनी उत्तम शिक्षा और विद्या की उन्नति में धारण करता हूं। मेरे चित्त के अनुकूल आपका चित्त सदा रहे। आप मेरी वाणी को एकाग्र होके सुनिए और परमात्मा मेरे लिए आपको सदा नियुक्त रक्खे।’ आचार्य और शिष्य की यह प्रतिज्ञायें विद्या प्राप्ति का मुख्य सिद्धान्त है। जहां आचार्य और शिष्य द्वारा इन प्रतिज्ञाओं का पालन होता है वहां शिष्य श्रेष्ठ शिष्य बनते हैं और जहां किसी कारण ऐसा नहीं होता वहां शिष्यों की बुद्धि का समुचित विकास नहीं होता। बुद्धि का विकास न होने से शिष्य सदाचारी व वेदाचारी भी कम ही बनते हैं।

प्राचीन काल में बालक वा ब्रह्मचारी विद्या प्राप्ति के लिए गुरुकुल जाता था जहां उसका उपनयन संस्कार किया जाता था। इस अवसर पर वह विद्या प्राप्ति के चिन्ह यज्ञोपवीत को धारण करता था और आचार्य व शिष्य दोनों प्रतिज्ञायें करते थे। इसी शिक्षा पद्धति से अतीत में राम, कृष्ण, युधिष्ठिर, चाणक्य और दयानन्द जी तैयार हुए थे। आज भी यह शिक्षा पद्धति प्रासंगिक एवं महत्वूपर्ण है। आज के विद्यालयों व आचार्यों को आचार्य की वैदिक प्रतिज्ञा को अपने जीवनों में चरितार्थ करना चाहिये।

यज्ञोपवीत के महत्व को दर्शाने वाली एक घटना फरवरी, सन् 1868 में बुलन्दशहर में घटी भी जब ठाकुर शिवलाल वैश्य रईस डिबाई, बुलन्दशहर को 21 फरवरी, सन् 1868 को कर्णवास में ऋषि दयानन्द से मिले थे। भेंट के समय ठाकुर शिवलाल वैश्य ने देखा कि कर्णवास में ऋषि दयानन्द दो-चार ठाकुरों और वैश्यों के लड़कों का उपनयन संस्कार कराने का यत्न कर रहे थे। उन्होंने स्वामी जी के पास जाकर उनको नमस्कार किया और उनसे प्रश्न किये। उनका प्रथम प्रश्न था, ‘महाराज ! यदि यज्ञोपवीत न हो तो क्या हानि होती है?’ स्वामी जी ने उसको उत्तर दिया कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का उपनयन संस्कार होना आवश्यक है। यह इसलिए आवश्यक है कि जब तक उपनयन सस्ंकार नहीं होता है तब तक मनुष्य को वैदिक कार्य (सन्ध्या, यज्ञ व वेदाध्ययन आदि) करने का अधिकार नहीं होता है।

उस उत्तर को सुनकर शिवलाल वैश्य जी ने पुनः प्रश्न किया कि एक व्यक्ति उपनयन संस्कार करावे परन्तु शुभ कर्म्म न करे और दूसरा उपनयन संस्कार नहीं करावे और सत्यभाषणादि कर्म में तत्पर हो, उन दोनों में कौन श्रेष्ठ है? इसका उत्तर स्वामी जी ने यह दिया कि श्रेष्ठ वह है जो उत्तम कर्म करता है परन्तु संस्कार होना आवश्यक है। इस लिए आवश्यक है कि संस्कार न होना वेद, शास्त्र के विरुद्ध है और जो वेद-शास्त्र के विपरीत करना है वह ईश्वरीय आज्ञा को नहीं मानता और ईश्वरीय आज्ञा को न मानना मानो नास्तिक होने का लक्षण है। इसका एक अर्थ यह भी निकलता है कि जो मनुष्य यज्ञोपवीत धारण नहीं करते हैं वह नास्तिक हैं।

आज समस्त आर्य हिन्दू समाज में यज्ञोपवीत संस्कार सहित वेदों की प्रवृत्ति की नितान्त आवश्यकता है। वैदिक धर्म व संस्कृति तभी चिरस्थाई हो सकते हैं अन्यथा इसका ह्रास रोकना सम्भव नहीं है। ओ३म् शम्।

**-मनमोहन कुमार आर्य**

**पताः 196 चुक्खूवाला-2**

**देहरादून-248001**

**फोनः09412985121**